तित्थयर

पंचदश वर्ष : नवम्बर १९९१ : सप्तम अंक

जैन भवन

आ. कै. सा. कोबा

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष १५ : अंक ७

नवम्बर १९९१

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

प्रकाशक

जैन भवन

पी-२५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७००००७

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७

सूची

सिद्धसेन दिवाकरकृत
गुणद्वात्रिंशिका : एक विवेचन १९५

अनेकान्तवाद और विश्वदर्शन
समन्वय २०२

त्रिषष्टि शलाका पुरुष
चरित्र २१६

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या २२३

शासन देवियों सहित पार्श्वनाथ व महावीर, बरभुजि गुम्फा,
खण्डगिरि, उड़ीसा, ईसा ११वीं शताब्दी

सिद्धसेन दिवाकर कृत

गुणद्वात्रिंशिका : एक विवेचन

डॉ० श्रीधर वासुदेव सोहोनी

[पूर्वानुवृत्ति]

महीपालोऽसीति स्तुति वचनमेतन्न गुणजं
महीपालः खिन्नामवनिमुरसा धारयति यः।
यदा तावद् गर्भे त्वमथ सकलश्रीर्वसुमती
किमीयायुष्मंस्ते नवशिवमिमां पश्यति महीम् ॥ २२

अन्वय : महीपालः असि इति एतत् स्तुतिवचनम्। न गुणजम्। यः खिन्नामवनीम् उरसा धारयति स महीपालः (भवति)। त्वं तावत् यदा गर्भे (आसीः) (तदा) सकलश्रीः वसुमती किमीया (आसीत्)? हे आयुष्मन्, नव-शिव-मिमां ते महीं (लोकः) पश्यति।

अर्थ : तुम पृथ्वी के पालन करने वाले हो, यह कहना तो तुम्हारी स्तुति प्रशंसा करना है। (यह नाम तुम्हारे) गुण के कारण नहीं है। महीपाल— पृथ्वी का पालन करने वाला तो वह होता है जो दुःख में पड़ी हुई पृथ्वी को हृदय से लगाता है। जब तुम माता के गर्भ में थे, अर्थात् जन्मग्रहण नहीं किया था, उस समय सभी सम्पत्तियों या शोभाओं से युक्त यह पृथ्वी किसकी थी? अर्थात् तुम्हारी—तुम्हारे पूर्वजों की थी। हे लम्बी आयुवाले राजन्, (आज) नये कल्याण रूपिणी तुम्हारी पृथ्वी को लोग देखते हैं।

अभिप्राय यह है कि तुमने नये पर-पृथ्वी को जीत कर राजा नहीं बने हो बल्कि तुम जन्मजात या जन्म के पूर्व से ही सारी पृथ्वी के स्वामी हो। आज तो तुम्हारी उसी पूर्वतः या जन्मतः प्राप्त पृथ्वी को नये-नये कल्याण और मंगल के रूप में लोग देखते हैं।

टिप्पणी : इसके तृतीय चरण के अन्त में डा० जैन ने 'वसुमती' ह्रस्व इकारान्त का प्रयोग किया है जो किसी भी तरह व्याकरण से शुद्ध नहीं हो सकता। 'वसुमती' के सम्बोधन में 'वसुमति' होता है किन्तु यहाँ उसका प्रसंगानुसार अर्थ नहीं बैठता। फिर 'वसुमान्' शब्द की सप्तमी के एकवचन में 'वसुमति' हो सकता हैं किन्तु वह भी निरर्थक हो जाता है। अतः डा० क्रौजे का 'वसुमती' प्रयोग ही शुद्ध हैं।

इसके चतुर्थ चरण में डा० जैन 'किमेयायुष्मॉंस्ते' पाठ दिया है, जो सर्वथा निरर्थक है। डा० जैन ने तो फुट नोट में साफ लिखा है कि— "The last two lines of the verse are a bit obscure." उनको इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका है, अन्दाज से कुछ अर्थ उन्होंने कर दिया

है। जब पाठ ही साफ नहीं है तो फिर अर्थ कैसे ठीक होगा। मुझे इस एक चरण को सार्थक बनाने में ४ घण्टे लगे हैं। डा० क्रौजे ने भी पाठ के बारे में कुछ नहीं लिखकर अनुमान से कुछ अर्थ कर दिया है। ये दोनों ही लेखक अन्धकार में ही टटोलते रह गये हैं। मैंने जो पाठ शुद्ध किया है, वह इस प्रकार है :

"किमीयायुष्मँस्ते नव-शिव-निभां पश्यति महीम्।"

इसमें प्रथम पद तो वही है जो डा० क्रौजे ने लिखा है। केवल "नवशिवमिमां" की जगह मैंने "नवशिवनिभां" कर दिया है। 'मिमां' और 'निभां' में बहुत साम्य है। अतः सम्भव है कि आदि लेखक ने 'निभां' को 'मिमां' लिख दिया हो। किन्तु "शिवमिमां" का यहाँ न तो कोई अर्थ बैठता है और न प्रासंगिक अन्वय ही। 'निभां' का अर्थ है 'सदृशी', 'शिव' का अर्थ है 'कल्याणमय' अतः 'नव-शिव-निभां' का अर्थ हुआ नये कल्याण-रूपी, जो कि 'महीम्' का विशेषण है।

एक शब्द इसमें 'किमीया' है, जिसका अर्थ शायद सामान्यतः सबों को बोधगम्य न हो। यह 'किम्' शब्द "वृद्धाच्छः" इस सूत्र से 'छ' प्रत्यय करने पर और स्त्रीलिंग में फिर 'टाप्' प्रत्यय करने पर बनता है जैसे— तदीया, मदीया, भवदीया आदि होता है, वैसे ही 'किमीया' अर्थात् किसकी होगा। ऐसा करने पर अर्थ भी संगत हो जाता है।

डा० जैन ने 'आयुष्मान्' प्रयोग किया है जो ठीक नहीं है। डा०क्रौजे का "आयुष्मन्" सम्बोधनान्त प्रयोग ही यहाँ उपयुक्त है।

इस प्रकार इस श्लोक के चौथे चरण में सिर्फ दो अक्षरों में परिवर्तन कर देने से पाठ बोधगम्य और स्पष्ट हो जाता है।

शतेष्वेकः शूरा यदि भवति कश्चिन्नयपटु-
स्तथा दीर्घापेक्षी रिपुविजय निःसाध्वसशरः।
तदेतत्सम्पूर्णं द्वितयमपि येनाद्यपुरुषे
श्रुतं वा दृष्टं वा स वदतु यदि त्वां न वदति॥ २३

अन्वय : यदि शतेष्वेकः शुरः भवति कश्चित् (च) नयपटुः दीर्घापेक्षी, रिपुविजय-निःसाध्वसशरः (भवति)। तद् एतत् सम्पूर्णमपि द्वितयम् अद्य येन पुरुषे श्रुतं वा दृष्टं वा स वदतु, यदि (स) त्वां न वदति।

अर्थ : सैकड़ों लोगों में कोई एक वीर होता है और कोई ही नीति में प्रवीण होता है। तथा दूरदर्शी भी कोई कोई ही होता है। रिपुओं के विजय में निर्भय शर—बाण वाला भी कोई कोई ही होता है। अर्थात् ये सभी गुण

एक पुरुष में एक जगह नहीं पाये जाते। जो वीर होगा वह नीति-निपुण नहीं और जो दूरदर्शी होगा वह शत्रुओं को मारने में निर्भय नहीं। किन्तु ये दोनों प्रकार के सम्पूर्ण गुण जिस एक पुरुष में किसी ने सुना या देखा है वह कहे कि क्या तुमको छोड़कर कहीं और भी उसने ऐसा देखा या सुना है? अर्थात् एक मात्र तुम्हीं में ये सबके सब गुण देखे या सुने जाते हैं।

टिप्पणी : इस श्लोक के पाठ में कहीं कोई पाठ-भेद नहीं है। दोनों ही पुस्तकों में एक ही पाठ है किन्तु मैं समझता हूँ कि इस श्लोक में दो स्थानों में पाठ-भेद की गुंजाइश है। प्रथम तो द्वितीय चरण के अन्तिम पद 'शरः' के स्थान में 'परः' होना चाहिये जो अधिक उपयुक्त होगा। केवल 'शर'—वाण से ही शत्रु को जीता जाय यह तो आवश्यक नहीं है। दूसरे अस्त्रों से भी शत्रु को जीता जा सकता है। अतः 'परः' शब्द अधिक उपयुक्त जँचता है। उसी चरण में "दीर्घापेक्षी" के स्थान में "दीर्घावेक्षी" अधिक उपयुक्त होगा। इसका अर्थ लोगों ने 'दूरदर्शी' 'farsighted' किया है। तब "अपेक्षी" का अर्थ तो देखने वाला नहीं होता। 'अपेक्षी' का अर्थ तो होगा अपेक्षा करने वाला। अतः "अवेक्षी" होना चाहिए। "अवेक्षणम्" और "अवेक्षा" का अर्थ आपटे ने किया है—seeing, looking at, looking forward. अतः दीर्घम् अवेक्षते पश्यति इति दीर्घावेक्षी, दीर्घदर्शी, दूरदर्शी। ये दो पाठ भेद मुझे आवश्यक और उपयुक्त प्रतीत होते है।

अयनविषमा भानोर्दीप्तिर्दिनक्षयपेलवा
परिभवसुखं मत्तैर्मत्तैर्घनैश्च विलुप्यते।
सततसकला निर्व्यासङ्गं समाश्रितशीतला
तव नरपते दीप्तिः साम्यं तया कथमेष्यति॥ २४

अन्वय : भानोः दीप्तिः अयनविषमा, दिनक्षयपेलवा, मत्तैः मत्तैः घनैः च परिभवसुखं विलुप्यते। हे नरपते, सततसकला, निर्व्यासंगं समाश्रितशीतला तव दीप्तिः तया कथं साम्यम् एष्यति?

अर्थ : सूर्य का प्रकाश उत्तरायण और दक्षिणायन के कारण कम-बेस होता रहता है, दिन के अन्त में क्षीण हो जाता है, मतवाले बादलों से घिर जाने पर आसानी से लुप्त हो जाता है किन्तु हे राजन्, तुम्हारा प्रकाश तो सदा पूर्ण रहता है, बिना रुकावट के शीतलता को धारण किये रहता है, फिर वह सूर्य का प्रकाश तुम्हारे प्रकाश की तुलना में कैसे आ सकता है। अर्थात् सूर्य के प्रकाश से—तेज से तुम्हारे सब प्रकार से उत्तम प्रकाश—तेज की तुलना नहीं हो सकती है।

को नामैष करोति नाशयति वा भाग्येष्वधीनं जगत्
स्वातन्त्र्ये कथमीश्वरस्य नवशः स्रष्टुं विशिष्टाः प्रजाः ।
लब्धं वक्तृयशः सभास्विति चिरं तापोऽद्य तेजस्विनाम्
इच्छामात्रसुखं यथा तव जगत् स्यादीश्वरोऽपीदृशः ॥ २५

अन्वय : कः नाम एषः (यः) भाग्येषु अधीनं जगत् करोति वा नाशयति ? ईश्वरस्य स्वातन्त्र्ये (स्वीकृते सति) कथं न विशिष्टाः प्रजाः स्रष्टुं (तस्य) वशः ? (त्वया) सभासु वक्तृत्व-यशः लब्धं (अतः) अद्य तेजस्विनां चिरं तापः (भवति) । यथा तव इच्छामात्रसुखं (अस्ति) ईदृशः (यदि) ईश्वरोऽपि (अस्ति तदा) जगत् (तथा) स्यात् ।

अर्थ : वह कौन है जो भाग्याधीन संसार को बनाता और नाश करता है ? यदि वह ईश्वर है और वह सब कुछ करने में समर्थ है तो फिर वह नये नये विशिष्ट प्राणियों की सृष्टि क्यों नहीं करता ? जो जो जीव-जन्तु पहले से हैं उन्हीं को बनाता है । तुमने सभाओं में वक्ता का यश प्राप्त कर लिया है इससे आज अन्य तेजस्वी विद्वान् चिन्तित हैं । जैसे तुम्हारी इच्छा मात्र से ही तुमको सुख की प्राप्ति हो जाती है यदि ईश्वर भी वैसा ही होते तो यह संसार ऐसा नहीं होता । अर्थात् तुम तो अपनी इच्छा के अनुसार सब कुछ कर सकते हो किन्तु ईश्वर वैसा नहीं कर सकते । वे तो प्राणियों के कर्म के अनुसार ही फल देते हैं । "यहाँ 'स ऐच्छत बहुस्यां प्रजायेय' इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है कि ईश्वर की इच्छा से ही सब कुछ नहीं होता ।"

गण्डष्वेव समाप्यते विवदतां यद्वारणानां मदो
यद्वा भूमिषु यन्मनोरथशतैस्तुष्यन्ति तेजस्विनः ।
यत्कान्तवदनेषु पत्ररचनासङ्गश्च ते मन्त्रिणां
तत्सर्वं द्विषतां मनोऽनुगतया कीर्त्यापराद्धं तव ॥ २६

अन्वय : विवदतां वारणानां मदः यद् गण्डेषु एव समाप्यते, यद्वा तेजस्विनः तत् मनोरथशतैः भूमिषु (एव) तुष्यन्ति, कान्तावदनेषु यत् पत्ररचना (क्रियते), ते मन्त्रिणां संगश्च (यः) भवति, तत् सर्वं तव द्विषतां मनोनुगतया कीर्त्या अपराद्धम् ।

अर्थ : चिंघार मारनेवाले हाथियों का मद्-जल जो उनके गालों पर ही समाप्त हो जाता है, या जो तेजस्वी लोग इस भूमि पर ही अपने सैकड़ों मनोरथों से सन्तुष्ट हो जाते हैं, या स्त्रियों के मुख पर जो पत्ररचना—

शृंगार किया जाता है या मंत्रियों के साथ जो तुम्हारी संगति होती यह सब तुम्हारे शत्रुओं के मन में बैठी हुई तुम्हारी कीर्तिका ही दोष है।

अभिप्राय यह है कि तुम्हारे शत्रुओं के मन में तुम्हारी वीरता की धाक ऐसी जम गयी है कि वे शिर उठाने का साहस नहीं करते और इसीलिए तुम निश्चिन्त हो और युद्ध में काम आने वाले तुम्हारे हाथी चीत्कार करते हैं और उनका मद-जल उनके कपोलों पर ही सूख जाता है, उनको अपना पराक्रम दिखाने का मौका नहीं मिलता। जो तेजस्वो-वीर लोग हैं उनको तुमने उनकी इच्छाओं को पूर्ण करके सन्तुष्ट कर दिया है, अतः वे लोग भी चुप हैं। इसी निश्चिन्तता के कारण स्त्रियों के मुखपर पत्ररचना की जाती है और तुम मन्त्रियों के साथ में रहते हो। अन्यथा युद्ध और आक्रमण की चिन्ता रहने पर यह सब नहीं हो पाता।

टिप्पणी : यहाँ भी 'विवदतां' का अर्थ दोनों ही विद्वानों ने विवाद करना किया है, जो ठीक नहीं है। जैसा कि मैं पूर्व में श्लोक संख्या २० की टिप्पणी में लिख चुका हूं कि विवाद या विमति अर्थ में 'वि' पूर्वक 'वद' धातु आत्मनेपदी हो जाता है और तब 'ववदतां' नहीं 'विवदमानानां' होता।

दूसरी बात यह है कि 'पत्ररचना' का अर्थ दोनों ही विद्वानों ने 'letter writing' किया है जो सर्वथा अशुद्ध और असंगत है। 'पत्ररचना' एक technical term है। इसका अर्थ होता है अंग पर या चेहरे पर रंग से रंगना। आप्टे ने पत्ररचना का अर्थ किया है—"Painting the person particularly the face with musk, sandal juice, or other fragrant substances. गीतगोविन्द में आया है—"रचय कुचयोः पत्रं चित्रं कुरुष्व कपोलयोः"। रघुवंश के त्रयोदश सर्ग के ५५ वें श्लोक में भी यह आया है। इसी को पत्रभंग भी कहते हैं। न जाने विद्वान् लेखकों ने इसका अर्थ letter witing कैसे कर दिया। यह तो साहित्य का एक प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द है।

क्रमोपगतमप्यपास्य युगभागधेयं कले-
रपर्वणि य एष ते कृतयुगावतारः कृतः।
भवेदपि महेश्वरस्त्रिभुवनेश्वरो वाच्युतो
विधानुरपि नूनमद्य जगदुद्भवे संशयः ॥ २७

अन्वय : कले क्रमोपगतम् अपि युगभागधेयम् अपास्य एष च अपर्वणि ते कृतयुगावतारः कृतः। महेश्वरः त्रिभुवनेश्वरः वा अच्युतः भवेदपि (तथापि) अद्य जगदुद्भवे विधातुरपि नूनं संशयः।

अर्थ : कलियुग का जो क्रमागत भाग है उसको भी दूर करके असमय में ही तुमने सत्ययुग का यह अवतार कर दिया। (अर्थात् युग की परम्परा के अनुसार अभी कलियुग का हिस्सा है किन्तु इस युग के नियम को तोड़ कर तुमने अपने सत्य-धर्म-न्याय आदि गुणों से असमय में ही सत्ययुग ला दिया।) महेश्वर-महेन्द्र-महाराजा शिव और विष्णु भलेही हों तथापि आज संसार की उत्पत्ति के विषय में ब्रह्मा के मन में भी निश्चय ही सन्देह होगा। (अर्थात् महाराजा युद्ध में नाश करने वाले होने के कारण शिव और प्रजाओं का पालन करने के कारण विष्णु भलेही हों किन्तु संसार की उत्पत्ति तो वे नहीं कर सकते। वह तो ब्रह्मा ही कर सकते हैं। अतः इस असमय में युग परिवर्तन कर देने से संसार की रचना करने वाले ब्रह्मा के मन में भी यह सन्देह होने लगा है कि जगद् की रचना ब्रह्मा ही करते हैं या और भी कोई करता है।)

टिप्पणी : यहाँ दोनों ही पुस्तकों में पाठ के विषय में ऐकमत्य है। 'महेश्वर' और 'त्रिपुरेश्वर' दोनों ही एकार्थक शब्द के एक साथ आ जाने से साधारणतः कुछ सन्देह हो जाता है किन्तु यहाँ 'महेश्वर' शब्द राजा के लिए आया है। 'महेश्वर' शब्द का अर्थ आप्टे के कोष में इस प्रकार है— "महेश्वरः=a great lord ; sovereign." अतः यहाँ यह शब्द राजा के लिये ही आया है।

द्वितीय चरण में 'ते' शब्द भी विचारणीय है। व्याकरण के नियमों के अनुसार 'ते' रूप चतुर्थी और षष्ठी में ही होता है। यहाँ तृतीया के अर्थ में प्रयुक्त है। 'ते' का सम्बन्ध 'कृतः' से है। जिसका अर्थ है—"त्वया कृतः"। अतः व्याकरण के विचार से यह चिन्तनीय हो जाता है। किन्तु "स्थितस्य गतिः चिन्तनीया" इस सिद्धान्त के अनुसार 'शेषे षष्ठी' इस सूत्र से तृतीया-करण के अर्थ में भी षष्ठी का प्रयोग शुद्ध सिद्ध किया जा सकता है।

गुणो नाम द्रव्यं भवति गुणतश्च प्रभवति
गुणापेक्षं कर्माण्यनुशयमनारम्भविषयम्।
विभुः स्यात्किं द्रव्यं गुणजमुत वान्य पदविधि-
र्यशो दिक्पर्यन्तं तव किमिति शक्यं गमयितुम् ॥ २८

अन्वय : गुणः नाम द्रव्यं भवति। गुणतः च गुणापेक्षं कर्म अपि प्रभवति। (तच्च) अनुशयम् अनारंभविषयं (भवति)। गुणजं द्रव्यं किं विभु स्यात्? उत अन्यः (कश्चिद्) पदविधिः (अस्ति)? तव यशः दिक् पर्यन्तं गमयितुं किमिति शक्यम्?

अर्थ : गुण तो द्रव्य (पदार्थ) होता है। गुण से गुणानुसार कर्म भी उत्पन्न होता है। वह कर्म सम्बद्ध और उत्पत्ति का विषय नहीं होता। गुण से उत्पन्न हुआ जो द्रव्य है क्या वह व्यापक हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। या इसका कोई दूसरा भी मार्ग है? अर्थात् नहीं है। (ऐसी स्थिति में तुम्हारे यश को सभी दिशाओं में कैसे ले जाया जा सकता है? किन्तु यह वास्तविकता है कि तुम्हारा यश सभी दिशाओं में गया हुआ है।)

टिप्पणी : इसमें वैशेषिक दर्शन के मूल सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए राजा के यश के विषय में उनकी व्यर्थता सिद्ध की गयी है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'गुण' की गणना सात पदार्थों में होती है। "द्रव्यगुणकर्मसामान्य विशेष समवायाभावाः सप्त पदार्थाः।" पुनः पृथिवी-अप्-तेज-वायु-आकाश आदि नव द्रव्य होते हैं। रूपरसगन्ध स्पर्श आदि २४ गुण होते हैं। "उत्क्षेपण......गमनानि" ये ५ कर्म हैं।

उन्हीं काणादीय सिद्धान्तों का खण्डन राजा के यश के चारों ओर फैलने से किया गया है। यश तो गुण हुआ। वह और पदार्थ है। दिक् द्रव्य है। फिर गुण की गति दिक् में कैसे? गति तो कर्म है। वह भी पदार्थ ही है। द्रव्य व्यापक नहीं होता। फिर राजा का यश गुणात्मा द्रव्य होते हुए भी व्यापक कैसे हुआ? इसी प्रकार के चुटकुले तर्क से कवि ने राजा के यशो-विस्तार का वर्णन करते हुए वैशेषिक दर्शन के कुछ-एक मूल सिद्धान्तों का खण्डन किया है।

इसका थोड़ा विश्लेषण डा० क्रौजे ने किया है किन्तु यह तो उतना विशाल विषय है कि इस पर एक स्वतन्त्र निबन्ध तैयार हो सकता है। वस्तुतः यह कवि का एक मजाक-सा है।

इस श्लोक के द्वितीय चरण के अन्त में 'विषयं' और 'विषमं' ये दो पाठ हैं किन्तु उपयुक्त पाठ 'विषयं' ही होगा क्योंकि वैशेषिक के सात पदार्थों में 'विषय' भी एक पदार्थ ही के रूप में आता है। "नित्य द्रव्य वृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव।"

तृतीय चरण के आदि में 'विभु' और 'विभुः' दो पाठ-भेद हैं किन्तु प्रसंगानुसार "विभु" क्लीवलिंग ही उपयुक्त जँचता है क्योंकि यह 'द्रव्यं' का विशेषण है जो क्लीबलिंग है। अतः क्लीवलिंग के विशेष्य का विशेषण भी क्लीव लिंग ही होगा न कि पुंलिंग।

अनेकान्तवाद और विश्वदर्शन समन्वय

उपाध्याय श्री अमरमुनि

जैन दर्शन के अन्तर्गत अनेकान्तवाद की जो विचारधारा प्रस्फुटित हुई, उसमें पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दर्शनों के सम्मुख उपस्थित उन समस्याओं का समाधान छुपा हुआ है, जिनका सही हल न मिलने के कारण एक तरह से दर्शन का स्वस्थ विकास ही कुंठित होता जा रहा है। अब तक दर्शनशास्त्र में नाना प्रकार के परस्पर विरोधी वादों का जन्म हो चुका है। यही कारण है कि कभी-कभी तो इन परस्पर टकराते दर्शनवादों से खिन्न होकर बड़े-बड़े विचारक भी सन्देहवाद के सघन अन्धकार में भटककर दर्शन की ही आलोचना करने लग जाते हैं।[1]

दर्शन के विचारपथ की समस्या :

जिस प्रकार बाह्य जगत् में दूध के मन्थन से नवनीत उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अन्तर्जगत् में विचाररूपी दुग्ध के मन्थन से दर्शनरूपी नवनीत प्रकट होता है। और यही वह दर्शन-नवनीत है, जिसे आत्मसात् करने के बाद आत्मा —चेतना हृष्ट-पुष्ट एवं आनन्दित होकर बन्धन-मुक्ति की ओर अग्रसर होती है। किन्तु खेद है कि आज वही दर्शन मानव-बुद्धि को विकृत बनाकर उसे अनिश्चय के अन्धकार की ओर धकेल रहा है। इसी कारण आरम्भ से ही, दार्शनिक एक ऐसी विधि की खोज में संलग्न रहे हैं, जो समस्त दर्शनवादों में वैचारिक समन्वय स्थापित कर सके। यदि ऐसी किसी समन्वय विधि का आविष्कार हो जाए, तो वादों के परस्पर भेद दूर हो जाएँ और सभी दर्शन एकता के सूत्र में बँधकर एक नये कल्याणकारी विश्व का निर्माण कर सकें। यही वर्तमान दर्शन की वास्तविक समस्या है।

विभिन्न दर्शनों की समन्वय विधियाँ :

अनेकान्तवाद के अतिरिक्त जिन दार्शनिकों ने उक्त समस्या को सुलझाने की दिशा में प्रयास किया है, उनके अन्वेषणों का परीक्षण भी आवश्यक है।

---

[1] वर्तमान सन्देहवादियों के अनुसार "दर्शन के द्वारा सत्य की खोज, अमावस्या की रात्रि को अन्धेरे कमरे में, एक अन्धे व्यक्ति द्वारा, एक ऐसी काली बिल्ली की खोज है, जो वहाँ है ही नहीं।" दर्शन की इससे बढ़कर और क्या अपभ्राजना हो सकती है।

पौर्वात्य और पाश्चात्य जिन दार्शनिकों ने 'दर्शन समन्वय विधि' को खोज निकालने का अद्यावधि प्रयत्न किया है, उनका विभाजन निम्न प्रकार है—

(१) माध्यमिकों की समन्वय विधि
(२) वेदान्त की समन्वय विधि
(३) कांट की समन्वय विधि
(४) हीगेल की समन्वय विधि
(५) ब्रेडले की समन्वय विधि
(६) अनेकान्त की समन्वय विधि

उक्त समन्वय विधियों का संक्षिप्त विवेचन क्रमशः इस प्रकार है :

(१) माध्यमिकों की समन्वय विधि :

भगवान बुद्ध के विभज्यवाद (विभज्जवाद[२]) के आधार पर द्वितीय शताब्दी के उद्भट बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने 'माध्यमिक दर्शन' के द्वारा समस्त दर्शनवादों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार विश्व की प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है। किसी भी वस्तु का अपना कोई नियत स्वरूप नहीं है। मानव-बुद्धि नाना प्रकार की कल्पनाओं के द्वारा जगत्, आत्मा, द्रव्य, गुण, कर्म आदि से सम्बन्धित विभिन्न वादों की रचना करती रहती है। दर्शन के इन विभिन्न वादों को चार कोटियों में बाँटा जा सकता है—

(१) सद्वाद (२) असद्वाद (३) सद्सद्वाद और (४) अनुभयवाद।[३] किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में उक्त चार वादों के आधार पर या तो यह कहा जा सकता है—वह अस्तित्ववान् है, या अनस्तित्ववान् है, अस्तित्ववान् अनस्तित्ववान् हैं, अर्थात् उभय हैं, या अनुभय है। दर्शन के समस्तवाद इसी

---

२ तथागत बुद्ध समस्त दर्शनवादों की समस्याओं का समाधान करने के लिए 'विभज्ज विधि' अर्थात् निरपेक्ष रूप से समाधान न देकर सापेक्षिक समाधान प्रस्तुत करते थे। वैसे नागार्जुन कहते तो यह है कि उनकी 'माध्यमिक विधि' बुद्ध दर्शित है, लेकिन वह तथागत के मूल अभिप्रयास से भिन्न एवं विरुद्ध है।

३ न सद् नासद् न सद्सद्, न चानुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥
—माध्यमिक कारिका, २।३

चतुष्कोटि की शृंखला में आबद्ध है। किन्तु यदि गहराई से विचार किया जाय, तो उक्त चारों ही दृष्टियाँ सत्य की कसोटी पर खरी नहीं उतरती हैं। क्योंकि वस्तु का अपना कोई वास्तविक स्वरूप ही नहीं है। नागार्जुन कहते हैं कि "वस्तु न तो स्वयं उत्पन्न होती है, न किन्हीं दूसरे हेतुओं से उत्पन्न होती है, न दोनों से और न अहेतु से ही।[४] जब उत्पाद ही नहीं, तो वस्तु का अपना स्वरूप ही कोई नहीं बन सकता।" नागार्जुन ने आत्मा, द्रव्य, गुण आदि—विषयक सभी वादों का खण्डन करके 'सर्ववाद शून्य' दर्शन की स्थापना की। परन्तु 'शून्य' अपने में कोई तत्व, वाद या वस्तु ही नहीं है।[५]

ऐसा प्रतीत होता है कि नागार्जुन ने तत्कालीन जगत्, आत्मा, द्रव्यादि—विषयक विभिन्न वादों के झंझावात से परेशान होकर उक्त समस्त वादों की जड़ें ही उखाड़ फेंकी। न होगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। बुद्धसम्मत प्रतीत्य समुत्पाद[६] का सहारा लेकर और नवीन मायावाद को जन्म देकर नागार्जुन ने दर्शनवादरूपी रोगों को दूर करने के लिए 'शून्यवाद' रूपी जो महौषधि तैयार की, उससे रोग तो क्या दूर हुआ, रोग के साथ बेचारा रोगी ही काल-कवलित हो गया। रोग के साथ रोगी को ही समाप्त करने की यह समन्वय विधि दार्शनिकों की आलोचना का विषय बन गई।[७] स्वयं बौद्ध

---

४ न स्वतो न परतो न द्वाभ्यां नाऽप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते, भावाः क्वचन केचन॥ —मा० का०, १।१

५ माध्यमिकों ने शून्यता के २० प्रकार बताये हैं। उसमें 'शून्य-शून्यता' भी एक प्रकार है, जिसमें 'शून्य' का वस्तुत्व भी निराकृत किया गया है।

६ यः प्रतीत्य समुत्पादः, शून्यतां तां प्रचक्ष्महे। —मा० का०

७ समस्त प्रमाणों का खण्डन करने के कारण शून्यवाद को 'आत्म विरोधी' समझा गया—

त्वयोक्ते सर्व शून्यत्वे, प्रमाणं शून्यमेव ते।
अहो वादोऽधिकृत्य न परेणोत्पाद्यते॥
स्वपक्षस्थापनं तद्वत् परपक्षस्य दूषणम्।
कथं करोत्यत्र भवान्, विपरीतं वदेन्न किम्॥
—सर्वदर्शनसिद्धान्तसंग्रह, पृ० १२

न्याय में इसे वितण्डा कहा है—

स्वप्रतिपक्ष स्थापनाहीनो वितण्डा। —न्याय दर्शन, १।२।३

दर्शन में ही नागार्जुन के विरुद्ध मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि दार्शनिक मल्लयुद्ध के लिये खड़े हो गए। शंकराचार्य आदि तो नागार्जुन के मतवाद को 'सर्व वैनाशिक' ही कहते हैं तथा उसको खण्डन तक के लिए भी आदर नहीं देना चाहते।[८] अतः दर्शनक्षेत्र में यह विधि दर्शन-समन्वय करने में अक्षम समझी गई।

(२) वेदान्त की समन्वय विधि :

वेदान्त ने सापेक्षवाद के ठीक विपरीत निरपेक्षवाद पर आधारित समन्वय विधि की स्थापना की है। सत्य केवल एक ब्रह्म ही है। द्रव्य, गुण, कर्म, कारण-कार्य-विषयक समस्तवाद मायाजन्य होने के कारण भ्रान्त है। जितने भी दर्शनवाद निर्मित होते हैं, वे सभी बुद्धि एवं तर्क के ऊहापोहमात्र हैं। उनका वास्तविक कोई अस्तित्व नहीं है। बुद्धि और तर्क के अनुयायियों को आचार्य शंकर 'बिना सींग पूँछ के बैल' तक की उपाधि दे डालते हैं,[९] तथा सत्य को प्रत्यक्ष और अनुमान से असिद्ध कहकर आगमरूपी वृहद् वटवृक्ष की शीतल छाया में समस्त वादों को सुलाना चाहते हैं।[१०]

लेकिन शंकराचार्य के ब्रह्मवाद तथा मायावाद से दर्शनवादों की समस्या का सुलझना तो दूर रहा, वह और भी अधिक जटिल एवं क्लिष्ट बन गई। प्रत्यक्षतः दृश्य जगत को केवल स्वप्न कह कर उड़ा देना आसान नहीं है। दृश्य जगत् की उपपत्ति के लिए माया का सहारा लेना पड़ा, और इस प्रकार ब्रह्मैक्यवाद के मूल पर ही कुठाराघात हो गया।

(३) काँट की समन्वय विधि :

जिस प्रकार पूर्वी दार्शनिकों ने दर्शन-समन्वय का प्रयास किया है उसी प्रकार काँट, हीगेल, ब्रेडले आदि ने भी ऐसा ही प्रयत्न किया है।

---

८ शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्धः, तन्निराकरणाय नादरः क्रियते।
—ब्र० सू०, शां, भा०, २।२

९ अपुच्छश्रृंगैस्तार्किकवलीवर्दैः। —वृहदा०, शां० भा०, २।३।२०
तथा
तर्कस्त्वनवस्थितो भ्रान्तोऽपि भवति। —केन०, शां० भा०, १।३

१० रूपाद्यभावात् नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिंगाद्यभावात् न च अनुमानीनां, आगममात्रसमधिगम्य एवं तु, अर्थो धर्मवत्।—ब्र०सू०, शां०भा०, २।१।६
तत्त समन्वयात्। —ब्र० सू०, १।१।४ पर शांकरभाष्य

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक इमेन्युल काँट (Immanual Kant) ने दर्शन मीमांसा (Critique of Philosophy) को अपने चिन्तन का विषय बनाकर दर्शन की सीमाएँ निर्धारित की। उनके अनुसार जगदुत्पत्ति, आत्मा और परमात्मा-विषयक सभी मतवाद आत्म-विरोधी (Self-contradictory) हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'शुद्ध बुद्धि की परीक्षा' (Critique of Pure Reason) में जगदुत्पत्ति (Cosmology) विषयक वादों को 'एण्टीनोमीज (Antinomies), आत्म-विषयक वादों को पैरालेजिज्म (Parallelism) तथा ईश्वर-विषयक वादों को आइडियल ऑफ रीजन (Ideal of Reason) के अन्तर्गत रखकर तद्विषयक समस्त दर्शन वादों का खण्डन किया और मूल तत्व को अज्ञेय बताया।

लेकिन अज्ञेयवाद के आधार पर किए गए दर्शन-समन्वय का अपना कोई महत्व ही नहीं रहता।[११] वस्तु का स्वरूप कुछ समझ में न आए तो उसे अज्ञेय कर उदासीन हो जाना, एक तरह से बौद्धिक पराजय है, जिसका चिन्तन-क्षेत्र में कुछ मूल्य नहीं है। इसी कारण काँट के विरोध में हीगेल ने एक नई 'समन्वय विधि' उपस्थित की।

(४) हीगेल की समन्वय विधि :

हीगेल ने अज्ञेयवादी विधि का तीव्र विरोध किया तथा मूल तत्त्व अथवा सत्ता (Being) को ज्ञान का विषय घोषित किया। उनके अनुसार दर्शन का विषय सदैव मूल तत्त्व (The Ultimate) रहा है। उसी मूल तत्त्व की दार्शनिक नाना प्रकार से व्याख्या करते हैं। दार्शनिकों की कुछ निश्चित धारणाएँ (Notions) होती हैं। इन्हीं धारणाओं में वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) की क्रिया और प्रतिक्रिया होती है। उसके बाद संवाद या समन्वयवाद (Synthesis) की रचना स्वतः हो जाती है। एक दार्शनिक ने किसी एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, तो दूसरे ने उसका खण्डन कर दिया। तीसरे ने आकर पिछले दोनों वादों का खण्डन कर दिया और अपनी ओर से एक नये ही विचार को जन्म दिया। एक ने कहा 'अस्ति' (Being) तो दूसरे ने कहा 'नास्ति' (Non-Being)—इसमें अस्ति और नास्ति दोनों

---

११ अज्ञेयवाद (Agnosticism) जब वस्तु के विषय में यह कहता है कि वह जानी नहीं जा सकती, तो यह भी तो एक प्रकार से उसका अज्ञेयत्व रूप में भी ज्ञेयत्व है। फिर शुद्ध अज्ञेयत्व कहाँ रहा ?

का समावेश हो गया। अनुवर्ती विचारक अपने पूर्ववर्ती विचारों का खण्डन करते हुए भी उनमें जो सच्चाई का अंश रहता है, 'उसे ज्ञात या अज्ञात रूप से स्वीकार कर लेते हैं। प्रत्येक विचार अपने केन्द्र पर अपूर्ण होता है। वह पूर्ण सत्य के दर्शन करने में अक्षम रहता है! अतः सत्य की प्राप्ति सभी विचारों की समष्टि के द्वारा होती है।

हीगेल ने मूलतत्त्व को निरपेक्ष (Absolute) माना, जो वाद, प्रतिवाद और संवाद की वक्र-प्रक्रिया द्वारा विकसित होता है। सभी वाद उसी तत्व के नाना गुणों के उल्लेख मात्र है और उन सबकी समष्टि ही उसका वास्तविक रूप है। इस प्रकार वादों में समन्वय स्थापित करने की एक विशिष्ट विधि हीगेल ने खोज निकाली। हालांकि उन्होंने अनेकान्तवाद[१२] का अध्ययन नहीं किया था, फिर भी अज्ञात रूप से ही कहिए, अनेकान्तवाद के अनेक तत्त्व उनकी विचारधारा में प्रस्फुटित हुए है। लेकिन हीगेल की सबसे बड़ी तार्किक कठिनाई उसके निरपेक्ष (Absolute) सम्बन्धी मान्यता के कारण हुई, जिसका उल्लेख हम आगे करने वाले हैं।

(५) ब्रेडले की समन्वय विधि :

हीगेल की भाँति ब्रेडले (Bradley)[१३] के अनुसार भी प्रत्येक निर्णय (Judgement) अंशतः सत्य होता है, और अंशतः मिथ्या। पूर्ण सत्य किसी एक वाक्य या अनुभव में नहीं पाया जाता, अपितु वाक्य-समष्टि (System of Judgement)[१४] में ही पाया जाता है, जो अपनी शब्दात्मक परिधि में अशेष विश्व को भी अपना विषय बना लेता है। पूर्ण

---

१२ अनेकान्तवाद भी ठीक यही दृष्टि देता है कि प्रत्येक वाद में सत्य का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य होता है।

१३ ब्रेडले ब्रिटेन के एक महान् दार्शनिक हुए हैं। उनका 'भ्रान्ति और सत्य' (Appearance and Reality) नामक ग्रन्थ विश्व-प्रसिद्ध है।

१४ ब्रेडले ने ऐसी वाक्य समष्टि की बात तो की किन्तु उसका रूपतः आविष्कार नहीं किया। भारत में बहुत पहले से ही अनेकान्त सत्य को प्रकट करने की स्याद्वादविधि आविष्कृत हो चुकी थी।

सत्य उसी सत्य को कहा जा सकता है, जिसका विषय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है।[१५] वैयक्तिक रूप से किसी एक निर्णय को सत्य नहीं कहा जा सकता। यह विराट् विश्व स्वयं एक समष्टि (System) है, अतः उसकी अभिव्यक्ति 'वाक्य समष्टि' के द्वारा ही सम्भव है। पूर्ण सत्य आंशिक सत्यों अथवा सिद्धान्तों की वह समष्टि होगी, जो विश्व समष्टि को उसकी समग्रता में अभिव्यक्त करेगी।[१६]

हमने संक्षेप में विश्वदर्शन के इतिहास से उन दर्शनों का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व के दर्शनवादों को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया था। लेकिन उपर्युक्त सभी दर्शनविधियाँ प्रायः निरपेक्षवाद (Absolutism) को ही अपना मार्गस्तम्भ मानती रहीं, अतः अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल न हो सकीं।

निरपेक्षवाद : एक परीक्षा :

यदि मूल तत्व निरपेक्ष अर्थात् गुणादि सभी अपेक्षाओं से परे हैं तो उसका अस्तित्व तर्क की अवहेलना करने पर ही स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। शून्यवाद और शंकर के निरपेक्ष ब्रह्मवाद का निर्माण तार्किक कठिनाइयों के कारण ही किया गया है। लेकिन उससे तार्किक कठिनाइयाँ कम न हुईं, अपितु और भी वृद्धि को प्राप्त हो गईं। नागार्जुन और शंकर ने जिस मायावाद की आधारशिला पर अपने निरपेक्ष महल का निर्माण किया है, उसका अस्तित्व ही आकाशकुसुम के समान है। वे स्वयं भी माया को अद्भुत अनिर्वचनीय[१७] आदि कहकर उससे बचने का प्रयास करते हैं, लेकिन निम्न कठिनाइयाँ ऐसी हैं जिनसे छुटकारा पाना असम्भव है—

---

१५ The absolute view of perfect truth and sheer error rests on the separate facts of truth which are self-contained and possess independent reality.—Bradley : Esseys on Truth and Reality, p. 265

१६ If your good is in the end to gain Reality in an ideal form, to posses of a self-contained individual whole.—Ibid., p. 229

१७ सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुता, निर्वचनीयरूपा ॥

—विवेक चूड़ामणि, १११

तथा

नियत्वाभावमनिर्वचनीयं नामरूपाव्याकृतेः।—ब्र०सू०,शां०भा०, १.१.५

(१) माया के सम्बन्ध में मूल प्रश्न है कि तथाकथित माया द्रव्य है या गुण ? यदि द्रव्य है, तो पदार्थान्तर विद्यमान होने से 'निरपेक्षवाद' की हानि होती है। यदि गुण है, तो उसे किसी गुणी द्रव्य के आश्रित रहना चाहिए। माया ब्रह्म का तो गुण हो नहीं सकता, दूसरा द्रव्य आप स्वीकार नहीं करते। फिर संगति हो भी तो कैसे ? यदि प्रत्यक्ष जगत् का अपवाद करके, और बुद्धि नेत्रों को बन्द करके माया को अनिर्वचनीय मान भी लें, तो प्रश्न उठता है कि माया का ज्ञान ही कैसे हुआ ? उसको अनिर्वचनीय कहना भी तो उसका वचनीयत्व सिद्ध करता है।[१८] क्योंकि यदि माया प्रमेय है तो उसका प्रमाण है। यदि प्रमेय ही नहीं तो उसकी सत्ता का प्रमाण ही क्या है ? अतः माया की ढाल से निरपेक्षवाद की रक्षा करना धूलि पर महल खड़ा करने के समान है।

(२) ब्रह्म का संसार रूप में परिवर्तन अथवा विवर्त अथवा अध्यास माया के योग से हुआ अथवा परिवर्तन के पश्चात माया का योग हुआ ? भ्रम, भूल अर्थात् अज्ञान से रहित शुद्ध ब्रह्म के अचानक माया एवं अविद्या की उत्पत्ति अथवा योग तो हो नहीं सकता। क्योंकि अशुद्ध के धर्म का सर्वथा शुद्ध में समावेश तो हो नहीं सकता। और यदि ब्रह्म के स्वरूप में परिवर्तन होने के पश्चात् माया एवं विद्या का योग हुआ तो निष्फलापत्ति दोष आता है। ब्रह्म में परिवर्तन तो हो ही गया, फिर माया ब्रह्म से युक्त होकर क्या नया काम करती है ?

(३) तथाकथित माया ब्रह्म के एक अंश में विद्यमान थी या सर्वांश में ? अथवा ब्रह्म माया को स्वयं उत्पन्न करता है या उसकी इच्छा के विरुद्ध वह स्वयं उत्पन्न हो जाती है ? यद्यपि आपके अनुसार ब्रह्म अखण्ड व्यापक है। उसमें अंश मानना उपयुक्त नहीं है। अखण्ड एकरस ब्रह्म के किसी एक अंश में माया के सद्भाव से उसके समस्वरूप शुद्ध स्वरूप की हानि होगी। ब्रह्म का कुछ अंश तो शुद्ध रहेगा, और कुछ अंश अशुद्ध। सर्वांश में माया की सत्ता स्वीकार करने पर ब्रह्म में पूर्णतः अशुद्धता माननी पड़ेगी।

(४) पाश्चात्य दार्शनिकों का निरपेक्ष तत्त्व गुणरहित, निष्क्रिय एवं अज्ञेय तत्त्व न होकर यथार्थ एवं क्रियाशील तत्त्व हैं। हीगेल ने स्पष्टतः

---

[१८] तत्त्वे द्वित्रिचतुष्कोटिव्युदासेन यथायथम्।
निरुच्यमाने निर्लज्जैरनिर्वाच्यत्वमुच्यते॥

—वेंकटनाथ कृत न्यायसिद्धान्त, पृ० ९३

कहा है कि निष्क्रिय, गुणरहित अज्ञेय तत्त्व का वास्तव में अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। वह अपने निरपेक्ष तत्त्व में वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) तथा संवाद (Synthesis) की वक्र प्रक्रिया द्वारा निरन्तर विकास मानता है। वह शंकर और नागार्जुन की भाँति जगत् को मिथ्या, विवर्त अथवा अध्यास न मानकर वास्तविक एवं यथार्थ (Real) मानता है। ऐसा होने पर भी हीगेल 'निरपेक्ष तत्त्व' के प्रति इतना मोह क्यों रखते हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। एक ऐसा तत्त्व, जो उनके मत में क्रियाशील है, विरोधी गुणों को धारण करने वाला है, नाना प्रकार के एकांशिक सापेक्ष सत्यों की समष्टि है, तो फिर 'निरपेक्ष' शब्द में ही ऐसा क्या आकर्षण है, जिससे कि वे उससे चिपका रहना चाहते हैं।

(५) यह अनुभव सिद्ध है कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान सापेक्ष होता है। जगत् की प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व व एकता के लिए अपने से बाहर अन्य वस्तुओं पर भी निर्भर करती है। उदाहरणार्थ, एक पौधा आसपास के वातावरण से प्राप्त होने वाले जल, वायु, मिट्टी, खाद आदि पर निर्भर करता है, इन्हीं की संगतिपूर्ण अभिव्यक्ति पौधा कहलाता है। जगत् की सभी वस्तुएँ इसी सापेक्षता के नियम से शासित हो रही हैं। फिर भी कतिपय दार्शनिक 'निरपेक्ष तत्त्व' का जो मोह रखते हैं, यह एक आश्चर्य की बात है। निरपेक्ष का तात्पर्य है सभी दशाओं (Conditions) तथा सम्बन्धों (Causations) से परे होना। लेकिन ऐसे तत्त्व के विषय में विचार ही सम्भव नहीं। क्योंकि विचार तभी सम्भव है, जबकि विचारयोग्य वस्तु का किसी न किसी स्तर पर विचारक से सम्बन्ध हो। विचारने का अर्थ ही है—वस्तु का अन्य वस्तुओं से भेद करना, उसे अन्य से सीमित करके समझना। उदाहरणार्थ हम एक कुर्सी को तभी ठीक तरह से जान सकते हैं, जब हम उसे मेज आदि अन्य वस्तुओं से पृथक् अथवा सीमित करके देखते हैं। पर सर्वथा 'निरपेक्ष' मानने पर उससे पृथक् किसी अन्य वस्तु का जब अस्तित्व ही नहीं है तो पार्थक्य रूप में होने वाला ज्ञान ही कैसे सम्भव है? अतः निरपेक्ष का एक काल्पनिक सत्ता के अतिरिक्त अपना कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है।

(६) यदि निरपेक्ष तत्त्व साधारण तथा सापेक्ष वस्तुओं के जगत् से परे है, तो हम उसे इस सीमित जगत का आधार ही कैसे मान सकते हैं। यदि वह उसका आधार है, तो फिर निरपेक्ष की ही रट क्यों लगाई जाती है, यह समझ में नहीं आता।

(७) हीगेल आदि ने 'समन्वय विधि' बनाने का पुरुषार्थ अवश्य किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन विचारों तथा वादोंके बीच प्रत्ययात्मक संगति (Conceptual coherence) अथवा असंगति मात्र सत्य की पूर्ण कसोटी नहीं हो सकती। असत्य प्रत्यय भी एक-दूसरे के साथ संगत (Coherent) हो सकते हैं। अतः प्रत्ययात्मक संगति के साथ-साथ तथ्यों (Facts) की संगति अथवा सादृश्य का होना भी आवश्यक है। प्रत्यक्षादि प्रमाण-विरुद्ध संगति केवल मिथ्या संगति ही कहलाएगी।

(८) हीगेल की सबसे बड़ी भ्रान्ति उनका बुद्धिवाद (Rationalism) के प्रति अत्यधिक स्नेह और अनुभववाद (Empiricism) की अत्यधिक अवहेलना है। बिना अनुभव, निरीक्षण व परीक्षण के केवल बौद्धिक संगति विज्ञान एवं युक्ति के विरुद्ध ही है। भौतिक विज्ञान में विभिन्न तथ्यों के वाहक वाक्य एक दूसरे से सम्बद्ध, एक दूसरे के समरूप एवं एक दूसरे पर अवलम्बित रहते हैं। विभिन्न वैज्ञानिक तथ्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है और वैज्ञानिकों की सदैव यही चेष्टा रहती है कि वे परस्पर निरपेक्ष प्रतीत होने वाले तथ्यों को घनिष्ठ सम्बन्ध-सूत्रों में बाँध दें। यही कारण है कि भौतिक विज्ञान अपनी प्रगति में अधिकाधिक एक संगतिपूर्ण समष्टि (Coherent system) का रूप धारण करता जा रहा है। लेकिन निरपेक्ष-वाद का अन्धानुकरण करने वाले, हमारे कुछ दार्शनिक उक्त संगति से कोसों दूर ही बैठे हैं।

इस प्रकार संक्षेप में हमने निरपेक्षवाद की परीक्षा की और उस पर से आप देख सकते हैं, वह कितना तर्क विरुद्ध है? अब हम एक ऐसी समन्वय विधि पर प्रकाश डालना चाहते हैं, जो निरपेक्षवाद के दोषों से मुक्त है। और जो वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर खड़ी रह सकती है।

(९) अनेकान्त की समन्वय विधि :

लगभग २५०० वर्ष पूर्व भारत की चिन्तनधारा पर फैले हुए विभिन्न दर्शनवादों में समन्वय स्थापित करने के लिए भगवान् महावीर ने सूत्र रूप से 'अनेकान्त विधि' का आविष्कार किया था, जिसका बाद के दार्शनिकों ने अपने भाष्यों और व्याख्याओं के द्वारा विस्तार से विवेचन किया है।

अनेकान्तवाद का अर्थ होता है अन्+एक+अन्त+वाद अर्थात् एक ही अन्त एवं धर्म को कथन न करने वाला सिद्धान्त। अतः अनेकान्तवाद

एकांगिक, एकांशिक अथवा एकान्तिक न होकर सम्पूर्ण सत्य को ग्रहण करता है।[१९]

प्राचीन आचार्यों ने स्पष्टतः इस विधि को सकल दर्शन-समन्वय विधि कहा है[२०] तथा उसका शासन क्षुद्र प्रदीप से लेकर विराट् आकाश तक स्वीकार किया है।[२१]

केवल यही नहीं, अपितु अनेकान्तदृष्टि अन्य वेदादिशास्त्रों के भी अविपरीत सार्वतान्त्रिक दृष्टि है।[२२] एकान्तिक, एकांशिक तथा एकांगिक दृष्टियों से जो जन-समाज में वैयक्तिक विग्रह एवं कलह उत्पन्न हो जाता है, अनेकान्तवाद उसकी अमोघ भेषज्य है। दधि-मन्थन की क्रिया से मक्खन निकालने वाली ग्वालिन जिस समय अपने एक हाथ से मन्थन की रस्सी के एक छोर को अपनी ओर खींचती है, उसी समय वह दूसरे हाथ की रस्सी के छोर को शिथिल कर वापस पीछे की ओर ले जाती है। रस्सी को ढीला छोड़ देती है, किन्तु उसे सर्वथा हाथ से छोड़ नहीं देती है। अनन्तर उक्त शिथिल रूप से छोड़े गये छोर को पुनः अपनी ओर खींचती है और अपनी ओर खींचे गये पहले छोर को शिथिल कर वापस पीछे की ओर पहुँचा देती है। इस प्रकार खींचने और ढीला छोड़ने की क्रिया और प्रतिक्रिया के द्वारा दही में से सारभूततत्त्व नवनीत उपलब्ध होता है। अनेकान्तवाद भी विचार

---

१९ प्रत्येक वस्तु में अनन्त अन्त अर्थात् गुण, धर्म एवं स्वभाव होते हैं, यह सिद्धान्त अनेकान्त है। 'अनन्त धर्मात्मकमेव तत्त्वम्।' और उन सब धर्मों को एक वाक्य समष्टि के द्वारा अभिव्यक्त करने वाली वचनपद्धति को स्याद्वाद कहा जाता है।

२० सकलदर्शनसमूहात्मकः स्याद्वादः। —सिद्ध हेमव्याकरण

२१ आदीपमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्रानऽतिभेदिवस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञा द्विषतां प्रलापाः॥
—अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, ५

२२ नवाणाभिन्नभिन्नर्थान्नयभेदव्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नोवेदाः स्याद्वादं सार्वतांत्रिकम्॥
—नय उपनिषद्

मन्थन के क्षेत्र में यही पद्धति अपनाता है।[२३] विभिन्न दृष्टियों को यथाप्रसंग कभी मुख्य तो कभी गौण करता हुआ अनेकान्तवाद भी समन्वयरूपी नवनीत उपलब्ध करता है।

विश्व दर्शन के इतिहास में अनेकान्तवाद जैसी समन्वय करने वाली अन्य विधि उपलब्ध नहीं होती। इसका एकमात्र कारण यही है कि यह समन्वय-विधि निरपेक्षवाद (Absolutism), प्रत्ययवाद (Idealism), सन्देहवाद (Scepticism), और अज्ञेयवाद (Agnoisticism) के दोषों से मुक्त होकर सापेक्षतावाद (Relaticism) और शुद्ध यथार्थवाद (Pure Realism) की दृढ़ आधारशिला पर निर्मित हुई है।

इस विधि के आविष्कारक भगवान् महावीर ने विश्व के विभिन्न दर्शन-वादों के विरोध का मूल कारण यही बताया है कि मूल में हर वस्तु अनन्त गुणात्यक है, अतः उसका किसी एक सीमित दृष्टि से कैसे आकलन किया जा सकता है? विभिन्न सापेक्षिक दृष्टियों द्वारा ही उसका वास्तविक स्वरूप-दर्शन हो सकता है।[२४]

---

२३ एकेनार्षन्ती स्थलयन्ति वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥
—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

२४ अनेकान्तवाद को अभिव्यक्त, करने की विधि सापेक्षविधि स्याद्वाद है। स्याद्वाद विभिन्न दृष्टियों से वस्तुगत अनेकान्त सत्य को अभिव्यक्त करता है। वैसे तो स्याद्वाद वचनों की कोई इयत्ता नहीं है, फिर भी विश्व के समग्र दृष्टि वचनों का वर्गीकरण स्यादस्ति आदि सात वचनों में किया है।

वस्तु के अपने स्वयं के द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से वस्तु (१) कथंचित् है (स्यादस्ति), वही वस्तु पर द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की दृष्टि से (२) कथंचित् नहीं भी है (स्याद्नास्ति), क्रमवाच्य दृष्टि से (३) वस्तु कथंचित है, कथंचित् नहीं है (स्यादस्तिनास्ति), युगपद् वाच्य की दृष्टि से (४) कथंचित अवक्तव्य है (स्याद्अवक्तव्य), (५) कथंचित् है और अवक्तव्य है (स्यादस्ति अवक्तव्य), (६) कथंचित् नहीं है और अवक्तव्य है (स्याद्नास्ति अवक्तव्य), (७) कथंचित् है भी, नहीं भी है और अवक्तव्य है (स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य)।

वर्तमान वैज्ञानिक आइन्सटाइन आदि समस्त विश्व व्याप्त सापेक्षता का सिद्धान्त (Theory of Relativity) खोज निकालता है तथा एक छोटे-से परमाणु तक में अनन्त शक्ति और गुणों का होना सिद्ध कर दिया है। यही सिद्धान्त भगवान् महावीर स्वामी ने हजारों वर्ष पूर्व खोज निकाला था। क्या यह आश्चर्यजनक घटना नहीं है?

ब्रेडले ने सम्पूर्ण सत्य को अभिव्यक्त करने की जो वाक्य समष्टि (System of Judgement) की अपेक्षा बताई है, उसका आविष्कार भारत में पहले ही हो चुका था। अनेकान्तवाद के निदर्शन के लिए सात अन्धों का उदाहरण सुप्रसिद्ध है। सात अन्धे व्यक्ति हाथी के विभिन्न अंगों को ही हाथी समझ कर एकान्तिक निर्णय ले बैठे और लड़ने-झगड़ने लगे। लेकिन जब उन्हें यह विदित हुआ कि उन सबके निर्णय एकांशिक हैं, सर्वाङ्गीण नहीं हैं, सम्पूर्ण हाथी की अभिव्यक्ति समग्र अंशों को मिलाकर ही होती है, तो उनका संघर्ष समाप्त हो गया। इसी प्रकार सत्यार्थी व्यक्ति अनेकान्तवाद के द्वारा एकान्तिक निर्णयों के कारण होने वाले व्यर्थ के बौद्धिक संघर्षों से बच सकता है एवं एक विशुद्ध व्यापक दृष्टिकोण अपनाकर अपने दूसरे साथियो के साथ अमुक वैचारिक स्तर पर एकमत हो सकता है। सभी दर्शनवादों को यदि उक्त सातों निर्णयों पर केन्द्रित किया जाय तो विश्व के सभी विवादों का मूल ही समाप्त हो जाए। अनेकान्त की समन्वय विधि वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप के अनुरूप है। यह पूर्व ही स्पष्ट किया जा चुका है कि वर्तमान विज्ञान ने प्रत्येक वस्तु को सापेक्षिक व अनन्त गुण एवं धर्मों से युक्त स्वीकार किया है। और अनेकान्तवाद ठीक उसके अनुकूल है।

केवल यही नहीं, अपितु सम्पूर्ण सत्य के अनन्त अंश, अंग अथवा अन्त होते है। यदि उन सभी अंशों को एक-एक करके गिना जाए, तो आकाश के तारों को अथवा सागर के जल कणों को गिनने के समान असम्भव हो जाएगा। इसीलिए अनन्त ज्ञानांशों को स्याद्वाद के स्यादस्ति आदि सात भंगों में संकलित किया जाए तो सम्पूर्ण सत्य का उद्घाटन हो जाता है। ऐसी पद्धति स्याद्वाद के सिवा अन्य कोई नहीं है।

इसके अतिरिक्त अनेकान्तवाद देश-काल की सीमाओं के बन्धन से भी परे है। जैसे भौतिक विज्ञान के नियम पूरे विश्व पर, हर काल में लागू होते हैं, वैसे ही अनेकान्तवाद के नियम भी सार्वदेशिक व सार्वकालिक है। किसी भी देश और काल का कोई भी दर्शनवाद अनेकान्तरूपी कल्पवृक्ष की छाया में

आकर अपने को सुरक्षित अनुभव कर सकता है तथा उसी का एक अंग बन जाता है।

अनेकान्त निरपेक्ष जैसी काल्पनिक वस्तु एवं प्रत्यक्षादि विरुद्ध काल्पनिक दर्शनवादों (Speculative philosophies) का परिहार करके शुद्ध वस्तुवादी (Realistic) दृष्टिकोण अपनाता है।

ये ही वे विशेषताएँ हैं जो अनेकान्तवाद को विश्वदर्शनसमन्वय विधि के उच्च शिखर पर आसीन कर देती है। लेकिन खेद है कि भारत के कतिपय प्राचीन एवं अर्वाचीन जैनेतर दार्शनिक इसके ठीक रूप को समझ ही नहीं सके, फलतः अनेकान्त के द्वारा परस्पर विवादग्रस्त दार्शनिक पक्ष में समन्वय स्थापित करने की दिशा में जो लाभ उठाना चाहिए था, वह न उठा सके। इसी कारण समन्वय विधि की यह अमूल्य विधि केवल जैन परम्परा में ही सीमित रह गई।

यदि आज दर्शन सम्मान से जीना चाहता है, मतभेदों को समाप्त करना चाहता है, विज्ञान के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर खड़ा होना चाहता है, व्यक्ति, परिवार, ग्राम, नगर, राष्ट्र तथा विश्व में सर्वत्र व्याप्त विरोधों को समाप्त कर परस्पर सहयोग स्थापित करना चाहता है, तो उसका एकमात्र मार्ग अनेकान्तवाद ही है। आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में कहा जाए[२५] तो एकांशवादी दर्शन नदियाँ है और सर्वांशवादी अनेकान्त सागर है। सभी नदियाँ घूम फिर कर अन्ततः सागर में ही मिलती है। विभिन्न पथवाहिनी नदियों का संगम एवं समन्वय समुद्र में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं।

---

२५ उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥

—द्वात्रिंशिका, ४।१५

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

विचरण करते-करते प्रभु उसी नीलगुहा उद्यान में लौटे और चम्पक वृक्ष के नीचे प्रतिमा धारण कर अवस्थित हो गए। फाल्गुन मास की कृष्णा द्वादसी को चन्द्र जब श्रवणा नक्षत्र में अवस्थित था घाती कर्मों का क्षय हो जाने से केवलज्ञान प्राप्त किया। शक्र व अन्य देवों ने समवसरण की रचना की उसके बीच में दो सौ धनुष दीर्घ अशोक वृक्ष स्थापित किया। प्रभु ने समवसरण में प्रवेश कर चैत्य वृक्ष की प्रदक्षिणा दी और 'नमो तित्थाय' कह कर पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर बैठ गए। व्यंतर देवों ने उनके अनुरूप तीन प्रतिमा निर्मित कर तीन ओर रखी। तत्पश्चात् चतुर्विध संघ यथा स्थान अवस्थित हुआ। प्रभु समवसरण में अवस्थित हैं ज्ञात कर राजा सुव्रत वहाँ आए और प्रभु को वन्दना कर शक्र के पीछे जाकर बैठ गए। प्रभु को पुनः नमस्कार कर हाथों को मस्तक पर लगाकर शक्र और सुव्रत ने इस प्रकार भक्तिपूर्ण स्तुति की—

आपके चरण दर्शन से ही यह शक्ति उपार्जित हुयी है जिससे हम आपका गुणगान कर रहे हैं। जब आप देशना देते हैं तब सूत्ररूपी श्रावक के लिए मातृरूप आपकी गौस्वरूपा वाणी को हम सम्मानित करते हैं। तैलाक्त पात्र के संसर्ग से जिस भाँति शुष्क पात्र भी तैलाक्त हो जाता है उसी भाँति आप की गुणावलियों को जानकर मनुष्य स्वतः ही गुणवान बन जाता है। जो अन्य कामों का परित्याग कर आपके उपदेश को श्रवण करते हैं वे पूर्व कर्मों से तत्क्षण मुक्त हो जाते हैं। हे देव, पाप रूपी पिशाच फिर उनका कुछ नहीं कर सकता। आपने सभी को अभय दिया है अतः सभी निर्भय हो गए हैं। किन्तु मेरे यहाँ से चले जाने के पश्चात् आप से जो विच्छेद होगा उसी भय से मैं भीत हूँ। चिरकालीन वैर में अन्य वाह्य शत्रु ही नहीं अन्तःशत्रु भी आपके समक्ष शान्त हो जाते हैं। आपका नाम स्मरण मात्र, जो पृथ्वी की कामना पूर्ण करने में कामधेनु रूप है, मैं जहाँ भी रहूँ वह मेरे साथ रहे।

शक्र और सुव्रत के इस प्रकार स्तुति करने के पश्चात् सब के ज्ञान के लिए प्रभु ने निम्न देशना दी।

लवण समुद्र से जिस प्रकार अमूल्य रत्न प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार

भव समुद्र से बुद्धिमान लोग धर्मरूपी अमूल्य रत्न प्राप्त करते हैं। संयम, सत्य, शुचिता, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप, क्षमा, मृदुता, सरलता और निर्लोभताएँ दश धर्म हैं। अपने देह की इच्छा से भी रहित, ममत्व वर्जित, सत्कार और अपमान में समदृष्टि, परिषह और उपसर्ग सहन करने में समर्थ, मैत्री, प्रमोद, करूणा और माध्यस्थ भावना युक्त, क्षमाशील, विनयवान, इन्द्रिय दमन कारी गुरु के प्रति श्रद्धायुक्त एवं जाति कुल सम्पन्न व्यक्तित्व ही यति धर्म का अधिकारी है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत सम्यक्त्व के मूल है। निम्नलिखित ३५ नियम (मार्गानुसारिता) गृहस्थ धर्म के अनुकूल है— यथा-न्याय से उपार्जित धन संग्रह करना, शिष्टाचार की प्रशंसा करना, अनुरूप कुलशील सम्पन्न भिन्न गोत्र में विवाह करना, पाप भीरु होना, देश-मान्य नियमों का पालन करना, निन्दा नहीं करना, विशेष कर राजाओं की, घर से निकलने के दरवाजों का घर में अधिक नहीं होना, घर निर्जन में नहीं बनाना, बाजार में भी नहीं बनाना, जहाँ के पास-पड़ोसी सदाचारी हों वहीं बनाना, सत्संग करना, माता-पिता की सेवा करना, जहाँ उपद्रव होते हों वहाँ वास नहीं करना, निन्दित कर्म नहीं करना, आय के अनुसार व्यय करना, अपनी सामर्थ्य के अनुसार वेष भूषा करना, बुद्धिके आठ गुण (१ शुश्रूषा—धर्म ग्रन्थ श्रवण करने की इच्छा, २ श्रवण—धर्म ग्रन्थ श्रवण करना, ३ ग्रहण—शास्त्रार्थ ग्रहण करना, ४ धारण—उसे मन में बसाना, ५ उह—उस पर विचार करना, ६ अपोह—जो युक्ति विरुद्ध हो ऐसी प्रवृत्ति नहीं करना, अर्थ विज्ञान—उहापोह जात संदेह दूर करना, ८ तत्वज्ञान—निश्चय पूर्वक जानना), प्रतिदिन धर्म श्रवण करना, अजीर्ण होने पर भोजन नहीं करना, यथा समय भोजन करना, विना विरोध के धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग प्राप्त करना, यथाविधि धनी दरिद्र निर्विशेष अतिथि सत्कार करना, दुराग्रह नहीं करना, गुणों का पक्षपात करना, देशकाल निषिद्ध कार्य नहीं करना, अपनी शक्ति का ज्ञान रखना, जो व्रतधारी हैं, ज्ञानवृद्ध हैं उनकी पूजा करना, जिन्हें पोषण करना आवश्यक है उनका पोषण करना, दूरदर्शी होना, वस्तु स्वरुप का ज्ञाता होना, कृतज्ञ होना, लोकप्रिय होना, दयालु और सौम्य होना, दूसरों का उपकारी होना, छः अन्तःशत्रु (काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष) के विनाश में तत्पर रहना, इन्द्रियों को वश में रखना। ये सब गुण जिनमें वर्तमान है वे ही श्रावक धर्म को ग्रहण करने के अधिकारी हैं। जो व्यक्ति यति धर्म पालन करने में असमर्थ हैं किन्तु मनुष्य जीवन को सार्थक करना चाहते हैं उन्हें उपर्युक्त श्रावक धर्म अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

यह देशना सुनकर बहुत से व्यक्तियों ने साधु धर्म ग्रहण किया और अनेकों ने श्रावक धर्म ग्रहण किया। कारण अर्हतों का उपदेश कभी व्यर्थ नहीं जाता। प्रभु के इन्द्र आदि १८ गणधर हुए। प्रभु की देशना के पश्चात् इन्द्र गणधर ने देशना दी। जब उनकी देशना समाप्त हुई तब शक्र, सुव्रत आदि सभी उन्हें प्रणाम कर स्व-स्व स्थान को चले गए।

भगवान के तीर्थ में त्रिनेत्र चतुर्मुख श्वेतवर्ण जटायुक्त वृषभ वाहन वरुण नामक यक्ष उत्पन्न हुए जिनके दाहिनी ओर के चारों हाथों में से एक में बिजोरा नींबू, दूसरे में दण्ड, तीसरे में तीर और चौथेमें बरछी थी। बायीं ओर के चार हाथों में क्रमशः नकुल, अक्षमाला, धनुष और कुठार थी। इसी प्रकार उनके तीर्थ में सिंहासनारूढ़ा शुभ्र वर्णा नरदत्ता नामक यक्षिणी उत्पन्न हुयी जिनके दाहिनी ओर के दो हाथों में से एक हाथ वरद मुद्रा में था, दूसरे हाथ में अक्षमाला थी एवं दूसरे दोनों हाथों में से एक में बिजोरा नींबू, दूसरे में त्रिशूल था। ये दोनों सुव्रत स्वामी के शासन देव-देवी हुए।

उनके द्वारा सेवित होते हुए एवं पर्यटन करते हुए प्रभु भृगुकच्छ नगर में पधारे। राजा जितशत्रु अपने कुलीन अश्व पर आरोहित होकर प्रभु को वन्दना करने गए और उनकी देशना सुनी। उनके उस अश्व ने भी कान खड़े कर प्रभु की देशना सुनी। देशना शेष होने पर गणभृत ने पूछा, हे भगवन्, इस समवसरण में किसको धर्मलाभ हुआ? प्रभु बोले, राजा जितशत्रु के कुलीन अश्व को छोड़कर किसी को भी नहीं हुआ। राजा जितशत्रु ने आश्चर्यान्वित होकर पूछा, हे भगवन्, धर्म ग्रहणकारी यह अश्व कौन है?

प्रभु ने प्रत्युत्तर में कहा—

'पद्मिनीखण्ड नगर में किसी समय जिनधर्म नामक एक व्यक्ति रहता था। वह श्रावक धर्म का पालन करता था। उसका सागरदत्त नामक एक मित्र था जो कि नगरपालक था। सम्यक् दृष्टि प्राप्त करने के लिए वह जिनधर्म के साथ चैत्यालय जाया करता था। एक दिन उसने एक साधु के मुख से सुना कि जो अर्हत् प्रतिमा का निर्माण करवाता है वह धर्म लाभ कर परभव में मुक्त हो जाता है। यह सुनकर सागरदत्त ने अर्हत् भगवान की स्वर्ण प्रतिमा निर्मित करवाकर खूब धूमधाम से साधुओं द्वारा उसकी प्रतिष्ठा करवायी।

नगर के बाहर बहुत समय पूर्व बना हुआ एक शिवालय था। उस शिवालय में सागरदत्त शीतकालीन संक्रान्ति में जाता और होम करता। वहाँ अनेक घी से भरे घड़े रखे हुए थे। उसी घी को खाने के लिए पुजारीगण

घड़े खींच-खींचकर बाहर निकालने लगे। घड़ों पर और घड़ों के नीचे बहुत-सी चींटियाँ एकत्रित हो गई थीं, घड़ों को निकालते समय वे जमीन पर गिरने लगी और पुजारियों के पैरों द्वारा कुचलने लगीं। यह देखकर सागरदत्त करुणावश उन्हें अपने वस्त्रों से दूर हटाने लगा। इससे क्रुद्ध होकर एक पुजारी बोला—तुमने क्या श्वेतवस्त्रधारी साधुओं से यह शिक्षा प्राप्त की है। ऐसा कहकर चींटियों को अपने पैरों तले और कुचलने लगा। सागरदत्त हतबुद्धि-सा बना आचार्य का मुख देखने लगा, किन्तु आचार्य ने उस पुजारी को अनुशासित नहीं किया। तब सागरदत्त मन ही मन सोचने लगा—हाय! ये सभी करुणाशून्य हैं। जो ऐसे निष्ठुर हैं उन्हें गुरु कहकर पूजा कैसे की जा सकती है। यज्ञानुष्ठान में पशुबलि देकर ये स्वयं ही नरक में पड़ेंगे। ऐसा सोचकर आचार्य के आदेश से उन्होंने होमानुष्ठान किया और बिना सम्यक् दृष्टि प्राप्त किए ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। सागरदत्त स्वभावतः ही उदार और चारित्र सम्पन्न था एवं व्यवसायलब्ध अर्थ सत्कर्म में लगाता था। इसीलिए इसने कुलीन अश्व के रूप में जन्म ग्रहण किया है। मैं इसे बोध देने के लिए ही यहाँ आया हूँ। पूर्व जन्म में अर्हत् प्रतिमा निर्मित करवाकर इसने जो शक्ति प्राप्त की उसी के प्रभाव से मेरी देशना सुनने मात्र से उसे धर्म की प्राप्ति हो गयी।

प्रभु द्वारा इस कहानी को सुनकर सभी उस अश्व की प्रशंसा करने लगे। राजा ने उस अश्व को मुक्त कर दिया और उससे क्षमा प्रार्थना की। तभी से भृगुकच्छ तीर्थ रूप में परिणत हो गया और अश्वावबोध नाम से प्रसिद्ध हुआ।

देशना शेष होने पर प्रभु लोक कल्याण के लिए विभिन्न स्थानों पर विचरण करते हुए एक दिन हस्तिनापुर आए। वहाँ जितशत्रु नामक एक राजा राज्य करते थे। उसी नगरी में एक हजार वणिकों का कार्तिक नामक प्रमुख निवास करता था। कार्तिक जैन श्रावक था। वहाँ गेरूए वस्त्र धारण करनेवाला एक वैष्णव तापस रहता था। वह कई बार एक-एक महीने का उपवास करता। वहाँ के अधिवासी भी उसकी पूजा करते और महीने के अन्त में अपने घर पारणा करने के लिए भक्ति भाव से आमन्त्रित करते। किन्तु सम्यक् दृष्टि सम्पन्न कार्तिक उसे आमन्त्रित नहीं करता। वह तापस इससे क्रुद्ध होकर सुयोग की प्रतीक्षा करने लगा ताकि कार्तिक को दण्डित किया जा सके। एक दिन राजा जितशत्रु ने तापस को अपने घर पारणा करने के लिए आमन्त्रित किया। तब उस तापस ने राजा से कहा—

कार्तिक सेठ यदि मेरी सेवा करे तो मैं आपके यहाँ पारणा कर सकता हूँ। राजा बोले—ठीक है, ऐसा ही होगा। राजा कार्तिक के घर गए और उससे तापस की सेवा करने को कहा। कार्तिक बोला—मिथ्यात्वी की सेवा करना मेरे लिए उचित नहीं है फिर भी मैं आपके आदेश से उसकी सेवा करूँगा।

यदि मैं पहले ही दीक्षा ले लेता तो मुझे यह काम नहीं करना पड़ता—ऐसा सोचते हुए कार्तिक सेठ राज-प्रासाद में गए। कार्तिक जब उसकी सेवा कर रहे थे, वह तापस बार-बार नाक पर अंगुली रगड़कर उसे दिखाते हुए अपनी घृणा प्रदर्शित करने लगा। इस कार्य से कार्तिक को संसार से वैराग्य हो गया। उस तापस की सेवा से अनिच्छुक कार्तिक सेठ ने एक हजार वणिकों के साथ प्रभु से दीक्षा ग्रहण कर ली। तदुपरान्त द्वादशांगी का अध्ययन कर बारह वर्षों तक महाव्रतों का पालन कर मृत्यु के पश्चात् वह सौधर्म देवलोक में इन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। तापस भी मृत्यु के पश्चात् अभियोगिक कर्म के कारण उसी इन्द्र का वाहन ऐरावत के रूप में सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। इन्द्र को देखते ही वह कुपित होकर दूर भाग जाता किन्तु इन्द्र बलपूर्वक उसको पकड़कर उस पर चढ़ते। कारण वे उसके स्वामी थे। तब उसने द्विमस्तक धारण किया। शक्र भी द्विमस्तक हो गए। ऐरावत जितने मस्तक बढ़ाने लगा इन्द्र भी उतने ही मस्तक बढ़ाने लगे। पूर्व जन्म के वैर के कारण वह फिर भी भागने लगा। अन्ततः इन्द्र ने अपने वज्र द्वारा आहत कर उसे वश में किया।

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ग्यारह मास कम साढ़े सात हजार वर्षों तक प्रभु सुव्रत स्वामी विचरण करते रहे। भगवान के संघ में ३०००० साधु, ५०००० साध्वियाँ, ५०० चौदह पूर्वधारी, १८०० अवधिज्ञानी, १५०० मनः-पर्यायज्ञानी, १८०० केवलज्ञानी, २००० वैक्रिय लब्धिधारी, १२००० वादी, १७२००० श्रावक और ३५०००० श्राविकाएँ थीं।

निर्वाण काल निकट आने पर प्रभु सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और एक हजार मुनियों सहित अनशन ग्रहण कर लिया। एक महीने पश्चात् ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को चन्द्र जब श्रवणा नक्षत्र में था प्रभु ने उन हजार मुनियों सहित मोक्ष पद को प्राप्त किया। इन्द्र और देवगण भक्तिवशतः वहाँ आए और मुनियों का मोक्ष गमन उत्सव यथाविधि सम्पन्न किया।

सप्तम सर्ग समाप्त

अष्टम सर्ग

जिनेन्द्र मुनि सुव्रत स्वामी जब पृथ्वी पर विचरण कर रहे थे तब चक्रवर्ती महापद्म ने जन्म ग्रहण किया था। उनका चरित्र यहाँ विवृत कर रहा हूँ।

जम्बूद्वीप में पूर्व महाविदेह के अलंकार रूप सुकच्छ विजय में श्रीनगर नामक एक नगर था। वहाँ प्रजापाल नामक एक राजा राज्य करते थे। वे जिस प्रकार प्रजा पुंज के कल्याण में रत थे उसी प्रकार अन्य राजाओं के यश रूपी हंसों को छिन्न-भिन्न करने में मेघ रूप थे। एक दिन आकाश में विद्युत्पात होते देखकर वे संसार से विरक्त हो गए और मुनि समाधि गुप्त से श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली। दीर्घ काल तक उन्होंने तलवार की धार-से महाव्रतों की रक्षा की और मृत्यु के पश्चात् अच्युत कल्प में इन्द्र रूप में जन्म ग्रहण किया। कारण सामान्य तप भी व्यर्थ नहीं जाता।

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में अमरावती-सी हस्तिनापुर नामक एक नगर था। वहाँ इक्ष्वाकुवंशीय पद्मोत्तर नामक एक राजा राज्य करते थे। वे पद्मा के निवास रूप पद्मद्रह के कमल तुल्य थे। उनकी पटरानी का नाम था ज्वाला। वे विविध गुणों से उज्ज्वल अन्तःपुर की अलंकार तुल्य थीं और रूप में देवियों को भी मात करती थीं। सिंह स्वप्न द्वारा सूचित उनके विष्णुकुमार नामक प्रथम पुत्र ने जन्म ग्रहण किया। रूप में वे तरुण देवतुल्य थे।

प्रजापाल का जीव अच्युत देवलोक का आयुष्य पूर्ण होने पर वहाँ से च्युत होकर रानी ज्वाला के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। चौदह महास्वप्नों द्वारा सूचित होकर ज्वाला रानी ने द्वितीय पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम महापद्म रखा गया। वह समस्त श्री का निवास रूप था। दोनों भाई क्रमशः बड़े हुए और गुरु से समस्त कला की शिक्षा ली। महापद्म चक्रवर्ती राजा होगा जानकर राजा ने उन्हें युवराज पद पर अभिषिक्त किया।

उसी समय उज्जयिनी नगर में श्रीवर्मा नामक एक राजा राज्य करते थे। उनके नमूची नामक एक मंत्री था। एक बार मुनि सुव्रत स्वामीके शिष्य आचार्य सुव्रत वहाँ आए। प्रासाद के ऊँचे झरोखे से राजा श्रीवर्मा ने नगरवासियों को बड़े धूमधाम से वे जहाँ अवस्थित थे उधर जाते देखकर नमूची से पूछा—महा धूमधाम से ये नगरवासी कहाँ जा रहे हैं? नमूची ने उत्तर दिया—कुछ मुनि नगर के बाहरी उद्यान में अवस्थित हैं, ये सब उन्हें ही वन्दना करने और उनका उपदेश सुनने जा रहे हैं। राजा का मन था स्वच्छ और

निर्मल। अतः वे बोले, चलो हम भी चलें। नमूची ने कहा—आप यदि धर्म श्रवण करना चाहते हैं तो मैं ही आपको धर्म सुनाऊँ। राजा ने कहा—फिर भी मैं वहाँ जाऊँगा। तब नमूची बोला—आप वहाँ तटस्थ रहिएगा। मैं वाद में उन्हें परास्त और निरुत्तर कर दूँगा। क्योंकि विधर्मियों का मत साधारण जनता में विस्तृत हो रहा है।

राजा मन्त्री व स्वपरिवार सहित आचार्य सुव्रत के पास गए। वहाँ नमूची ने उद्धतभाव से पूछा—धर्म क्या है? किन्तु मुनिगण वाद-विवाद न कर चुप रह गए। इससे नमूची और भी कुपित होकर अर्हत् वाणी की निन्दा करते हुए बोला—तुमलोग क्या जानते हो? कुछ भी नहीं जानते? तब आचार्य सुव्रत क्रुद्ध मन्त्री से बोले—यदि आप वाद करना चाहते हैं तो आइए हम वाद करें। तब आचार्य सुव्रत के एक शिष्य बोले—इसके साथ वाद में प्रवृत्त होना आपको शोभा नहीं देता। यह अपने को महापंडित समझ रहा है। मैं ही इसे वाद में परास्त कर दूँगा। आप केवल दर्शक बनकर देखें। इस ब्राह्मण को बोलने दीजिए। मैं इसको वाद में निरुत्तर कर दूँगा।

इससे क्रुद्ध होकर नमूची कर्कश स्वर में बोला—तुमलोग अपवित्र हो, विधर्मी हो एवं वेद मर्यादा के बाहर हो। तुमलोगों को इस राज्य में रहने का अधिकार नहीं है। यही हमारा पक्ष है। इसके प्रतिपक्ष में तुम क्या कहना चाहते हो?

शिष्य बोले, सभी जानते हैं जो सम्भोगी होते हैं वही अपवित्र होते हैं। जो सम्भोग में निरत हैं वही विधर्मी हैं एवं वेद मर्यादा के बाहर हैं। वैदिक सिद्धान्त यह है कि जल के स्थान, हमाम दस्ता, चक्की, चूल्हा और झाड़ू ये पाँच गृहस्थों के पापस्थानक हैं, जो इन पाँचों स्थानों की नित्य सेवा करते हैं, वे अपवित्र और वेद बाह्य हैं। हमलोग जो कि इन पाँचों स्थानों से रहित हैं वे वेद मर्यादा के बाहर कैसे हैं? हम जैसे निर्दोष महात्माओं का आप जैसे म्लेच्छों के मध्य रहना उचित नहीं है।

[क्रमशः

जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या

तुलसी प्रज्ञा ।। जुलाई-सितम्बर १६६१

संपादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'ज्ञान प्रामाण्य विवेचन' (विश्वनाथ मिश्र), 'आत्मा का वजन' (समणी मंगल प्रज्ञा), 'आदमी बूढ़ा क्यों होता है?' (साध्वी राजीमती), '-म्हि और -स्सि सप्तमी एक वचन की प्राचीन विभक्तियाँ' (डॉ. के. आर. चन्द्र), 'शाश्वत यायावरी जैन श्रमणों की' (मांगीलाल मिश्र), 'क्या सामान्य केवली के लिए अर्हन्त पद उपयुक्त है?' (साध्वी सुरेखाश्री), 'दृष्टान्त-शतक री जोड़' (मुनिश्री जीवोजी), 'Equivalent Views about Ultimate Reality in Jainism and Hinduism' (Dr. Prem Suman Jain), 'Importance of Angavijja—A Prakrit Text of Antiquity' (Dr. Jagdish Chandra Jain), 'Jainism & Buddhism' (Dr. N. K. Das), 'Prosodial Practice of Six Jaina Poets' (Nagendra Krishna Singha).

श्रमण ।। अप्रैल-जून १६६१

इस अंक में है 'अर्हं परमात्मने नमः' (कल्याणमल लोढ़ा), 'प्राकृत व्याकरण : वररुचि बनाम हेमचन्द्र : अन्धानुकरण या विशिष्ट प्रदान' (के. आर. चन्द्र), 'वसन्त-विलासकार बालचन्द्र सूरि : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' (डॉ० यदुनाथ प्रसाद दुबे), 'अन्य प्रमुख भारतीय दर्शनों एवं जैन दर्शन में कर्मबन्ध का तुलनात्मक स्वरूप' (कमला जोशी), ''ऋग्वेद में अहिंसा के संदर्भ' (डॉ. प्रतिभा त्रिपाठी), 'जैन आगमों में वर्णित जातिगत समता' (डॉ. इन्द्रेश चन्द्र सिंह), 'आचारांग में अनासक्ति' (डॉ० श्री प्रकाश पाण्डेय), 'जैन अभिलेखों की भाषाओं का स्वरूप एवं विविधताएँ' (डॉ. एस. एन. दूबे), 'महावीर निर्वाण भूमि पावा—एक विमर्श' (भगवती प्रसाद खेतान)।

LODHA MOTORS

A House of Telco Genuine Spare Parts and
Govt. Order Suppliers.
Also Authorised Dealers of Pace-setter and
Nicco Batteries in Nagaland State.

GOLAGHAT ROAD, DIMAPUR
NAGALAND

Phone : 3039, 3174

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn, Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

Office and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phone : Off. 3204
Res. 3356

Main Office :
4 Meer Bohar Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 38-5960

Branch Office :
Srinath Katra : Bhadhoi
Phone : 5378
5578,5778

WB/NC-253

Vol. XV No. 7 **TITTHAYARA** **November 1991**

Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 24582/73